

१.१.६ अभिनय की प्रकृति- धर्मी :

नाट्य लोकवृत्त का अनुकरण है। लोकरुचि की संतृप्ति नाट्य का प्रयोजन है।² वस्तु व पात्र की योजना और उसके अभिनय आदि के लिये लोक को प्रमाण जाता नाट्य में लोकवृत्त आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के माध्यम से अभिनेता के द्वारा कलात्मक ढंग से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। लोकवृत्तकी स्वाभाविकता की संरक्षा करते हुये नाट्यशास्त्रीय विधि-विधानों को अभिनय क्रिया का अंग बनाया जाता है। नाट्यलेखन और नाट्याभिनय दोनों में लोक और शास्त्र दोनों की ही आधार बनाया जाता है। अभिनेता और नाट्यकार का लोक और शास्त्र के ज्ञान से परिचय आवश्यक है। इनके परिज्ञान के बिना न तो नाट्य का प्रणयन सम्भव है और न ही अभिनय।।

धर्मी अभिनय का आधार है। धर्मी का अर्थ है- धर्म से युक्त। संस्कृत में धर्म शब्द अनेकार्थी है। स्वभाव, स्वरूप, कर्तव्य, धर्म, गुण आदि इसके अनेक अर्थ हैं। उक्त पदार्थों से अन्वित वस्तु धर्मी कहलाती है। नाट्य के सम्बन्ध में यह शब्द अभिनय का अनुगामी है। धर्मी अभिनय से सम्बद्ध वे क्रियायें या व्यवहार हैं, जो नट- सम्प्रदाय के द्वारा कर्तव्य या आचार के रूप में ग्राह्य हैं। वे कभी तो लोक में घटित दैनिक क्रिया-कलापों की स्वाभाविकता से ओत-प्रोत रहते हैं और कभी शास्त्रीय समुदाचार पर प्रतिष्ठित। नाट्य का अपना धर्म या स्वभाव, जिसमें विशिष्ट मताचारों और परम्पराओं के अनुरूप क्रिया-कलाप समाहित रहते हैं, 'धर्मी' कहे जाते हैं।

भरत ने लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दो प्रकार की परम्पराओं की परिकल्पना की है।²

- लोकधर्मी-

लोक के स्वभाव पर आधारित अभिनय लोकधर्मी है। भरत, धनञ्जय, नन्दिकेश्वर आदि आचार्य कथानक और अभिनय के अनेक रूपों को लोक से ग्रहण करने का निर्देश देते हैं। नाट्यशास्त्र में जो विधि-विधान उपलब्ध नहीं हैं उनकी इतिकर्तव्यता में लोक को ही प्रमाण माना गया है। इसलिये नाट्य से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए लोकपरम्पराओं का परिज्ञान अनिवार्य है। लोकाचार और परम्पराओं का ज्ञान होने से नाट्यकार अपने नाट्य में देश-विशेष में प्रचलित प्रवृत्तियों की आवश्यकतानुसार अवतारणा कर सकता है और अभिनेता स्वाभाविक अभिनय करने में समर्थ रहता है। उदाहरण के लिये आवन्ति और दाक्षिणात्याप्रवृत्ति में द्वार की योजना उत्तर की ओर, पाञ्चाली और औड्रमागधी में द्वार की योजना दक्षिण दिशा की ओर की जानी चाहिये। स्वाभाविकता के आधान के लिए ही नाट्य में आयु के अनुरूप वेशभूषा, वेशभूषा के अनुरूप गति प्रचार, गतिप्रचार के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय की योजना पर बल दिया गया है।

लोकवृत्त की स्वाभाविकता का निर्वाह करने के लिए नाट्य में लोकचेष्टाओं, भावों एवं वेशभूषादि का अनुवर्तन किया जाता है। इसमें बिना किसी अतिरंजना के लोक के अनुरूप स्वाभाविक विधि से वार्तालाप, हाव-भाव और आंगिक

चेष्टाओं का संचालन सम्पन्न किया जाता है। यह अभिनयविधि नाट्य में सहज लोकानुकरण को अंगीकृत करती है। भरत कहते हैं-

स्वभावभावोपगतं शुद्धन्त्वविकृतं तथा।

लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम् ॥

स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।

यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥

ना.शा., १३/७०-७१

अर्थात् लोकस्वभाव के अनुरूप भावों का प्रदर्शन सहज, अविकृत तथा लोकदृष्ट विधि से प्रदर्शित किया जाता है, जिस नाट्य के कथानक में सामान्य लोक के आचार-विचार और क्रियायें तदनुरूप ही प्रदर्शित की जाती हैं, जिसमें लीला-विच्छिन्न के बिना आंगिक क्रियायें और सहज भाव प्रदर्शित किये जाते हैं, जो लोक के समान ही अनेकविध स्त्री और पुरुष पात्रों के अभिनय से युक्त है उसे 'लोकधर्मी' कहते हैं।

भरत ने लोकधर्मी तत्त्व के लक्षण में स्वभावोपगतम्, स्वभावाभिनयोपेतं, लोकवार्ताक्रियोपेतं आदि विशेषण पदों के द्वारा लोकजीवन के वास्तविक क्रियाव्यापारों की सहजता पर बल दिया है। अभिनवगुप्त के अनुसार लोकधर्मी अभिनय में अभिनेता के निजविवेक से सम्पादित रंजनकारी वैचित्र्य के आधान की सम्भावना नहीं रहती। इसलिये सामाजिक जीवन की सहज स्वाभाविक गतिविधियों का उसी रूप में अनुकरण करने वाला कृत्रिमता रहित स्वाभाविक अभिनय लोकधर्मी कहलाता है।

लोकधर्मी अभिनय में विभिन्न स्त्रियों और पुरुषों के मनोगत भावों की अभिव्यंजना की जाती है। स्त्रीभावों का अभिनय स्त्री-पात्रों के द्वारा और पुरुष भावों का अभिनय पुरुष-पात्रों के द्वारा ही रंगमंच पर किया जाता है। इसलिये लोकसम्मत एवं लोकप्रचलित कर्तव्य, शिल्प, क्रियायें लोकधर्मी के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। भरत नाट्य में लोकप्रामाण्य को बहुत महत्त्व देते हैं। वस्तुतः लोकधर्मी से भरत का अभिप्राय उस लोकनाट्य परम्परा से नहीं है जो नागरिक जीवन से दूर ग्राम्य क्षेत्रों में नौटंकी, रास आदि लोकनाट्य विधाओं के रूप में प्रचलित रही है। इसे ग्राम्य जीवन का पर्याय मानना उचित नहीं है। लोकप्रतिष्ठित होते हुये भी यह शास्त्रीय विधि है। वह लोकधर्मी उस परम्परा को मानना चाहते हैं जिसके अन्तर्गत अभिनेता नाट्यरूढ़ियों का त्याग करके सहजता के साथ लोकव्यवहार को अपने आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य विधियों के आश्रय से अभिव्यक्त करता है। अभिनवगुप्त लोक का अर्थ जनपदवासी करते हैं। देश ही आवन्तिजा, पाञ्चाली आदि प्रवृत्ति के भेद से नाट्य में प्रपञ्चित है। जिस देश का जैसा

लोकाचार है उसका वैसा ही वर्णन नाट्य में अपेक्षित है। कृत्रिमता शून्य अभिनय लोकधर्म का आधार है। इसमें स्त्री-पुरुष के वास्तविक व्यवहार की पुनराभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः यह लोकधर्म होते हुए भी शास्त्रसम्मत है।

- नाट्यधर्म-

कलात्मकता और प्रतीकात्मकता का ग्रहण करते हुये लोकप्रवृत्ति को अंगीकार किया जाता है। स्वभावतः नाट्य में लोकगत धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं होता। लोकगत वर्णन में रंजकता का आधान करने के लिए नाट्यकार अपने वर्णन में और नट अपने व्यापारों में जो विचित्रता लाता है, उसे नाट्यधर्म कहते हैं। उदाहरण के लिये मंच पर वीथी, भाण आदि शैली के रूपक जिनमें एक ही पात्र होता है उनकी प्रविधि नाट्यधर्म है किन्तु इसमें जो यथार्थवादी कथानक प्रस्तुत किया जाता है उसका सम्बन्ध लोकधर्म से है। देव-दानव, पर्वत, नदी आदि की रंगमंचीय अवतारणा में जहाँ नाट्यधर्म विधि अपनायी जाती है। वहीं मानवीय भावों और देश-काल पात्रों की योजना में स्वाभाविकता का निर्वाह करने के लिये लोकधर्म विधि का भी पक्ष रखा गया है-

देशं कर्म च जातिं च पृथिव्युद्देशसंश्रयम्।

विज्ञाय वर्तना कार्या पुरुषाणां प्रयोगतः॥

ना.शा., २१/१०९

- (क) आंगिक अभिनय में नाट्यधर्म-

भरत ने नाट्यधर्म विधि से सम्पन्न होने वाले नाट्य प्रयोग के प्रदर्शन का पक्ष रखा है। नाट्यधर्म परम्परा के अन्तर्गत नाट्य के उस कलात्मक रूप का ग्रहण किया जाता है जो सामान्यतः लोक में व्यवहृत नहीं होता। सामान्य गति के स्थान पर लीलापूर्वक पादनिक्षेप, वार्तालाप के सामान्य रूप के स्थान पर पद्यात्मक गानपूर्वक वार्तालाप, सामान्य वेषभूषा के स्थान पर आकर्षक भङ्गीली वेषभूषा, मंच के लिये आकर्षक साजसज्जा का विधान तथा मनोभावों की तीव्र प्रतिक्रिया आदि विधि-विधान रंगमंच के लिए विकसित किये गये हैं। आंगिकादि अभिनय के प्रदर्शन से रहित नाट्य प्रयोग दर्शकों का मनोरंजन नहीं कर सकता। नाट्यधर्म में मनुष्यों के सहजभाव भी आंगिक अभिनय, अलंकार तथा सुमधुर चेष्टाओं के साथ आवश्यकतानुसार प्रदर्शित किये जाते हैं। किसी रूपक में पात्रों की गति ललितके अंगों के साथ पैरों के उत्क्षिप्त पाद निक्षेप से नाचते हुए के समान प्रदर्शित की जाने पर सामान्य होने पर भी सुन्दरता के कारण असामान्य लगे उसे नाट्यधर्म कहते

- आहार्याभिनय में नाट्यधर्म- मंच पर शैलान, विमान आदि का प्रयोग सम्भव नहीं है किन्तु अभिनेता जब इनका साकार मूर्तिवत् सा अभिनय प्रस्तुत हैं। प्रायः नृत्य में इस प्रकार की गतियों का प्रचुर प्रयोग होता है। करता है उसे

नाट्यधर्मी कहते हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त का रथ से हिरन का पीछा करना। सप्तम अंक में मातलि सहित दुष्यन्त का विमान से अवतरण।

नाट्य में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं पन्नग आदि जीवधारी जहाँ प्राणी माने जाते हैं; वहीं नदी, पर्वत, समुद्र, वाहन तथा नानाप्रकार के शस्त्र भी नाट्यधर्मित्व की अपेक्षा से प्राणी माने जाते हैं। इनमें भी पर्वत, नदी आदि स्त्री स्वभाव कहे गये हैं। शैल, प्रासाद, यन्त्र वल्कल, कवच आदि निर्जीव पदार्थों को नाटकीय वस्तु और अभिनय की अनुकूलता के लिये शरीरधारी व प्राणधारी माना जाता है। यह व्यवस्था नाट्यधर्मी के आधार पर की गई है। उदाहरण के लिये उत्तररामचरित में जृम्भकास्त्र को प्राणाधारी आदरस्पद व्यक्ति के समकक्ष माना है। वासन्ती (वनदेवी), तमसा, मुरला, गंगा नदियों और पृथ्वी पर भी स्त्रीभाव का आरोपण किया गया है। इनका औचित्य नाट्यधर्मी विधि से है। मंच पर इनकी अवतारणा करते समय वेषभूषा, अलंकरणवर्ण योजना पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये देवता, यक्ष और अप्सराओं के वस्त्राभूषणों का वर्ण गौर और समुद्र, हिमालय व गंगा का श्वेत होना चाहिये। नर-नारायण का रंग श्याम और वासुकी का काला होना चाहिये। दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, पर्वत, पिशाच आदि का वर्ण असित(नील-श्याम) होना चाहिये। प्राकृतिक दृश्यों, युद्ध व नगर घेराव जैसी स्थितियों को रंगमंच की सीमित सीमा में अभिनीत किया जाना सम्भव नहीं है। विशाल स्थान की अपेक्षा रखने वाले तथा लोक और शास्त्र की मर्यादाओं को भंग करने वाले जिन दृश्यों को साक्षात् रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उन्हें भी नाट्यधर्मी रूढ़ियों के आधार पर प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) नाट्यधर्मी संवाद- संस्कृत नाटकों के गद्यात्मक (प्रकाश निर्देश के साथ प्रस्तुत) संवाद प्रायः लोक-धर्मी विधि से प्रस्तुत होते हैं। किन्तु स्वगत और

नियतश्राव्य संवाद नाट्यधर्मी हैं। जिस अभिनय में समीप में कहे वचन परस्पर सुनाई नहीं देते और अनुक्त (बिना कहे) वचन भी सुनाई देते हैं वहाँ भी नाट्यधर्मी विधि का व्यवहार किया जाता है।² 'जनान्तिक', 'अपवारित', 'नियतश्राव्य', 'स्वगत', 'आकाशभाषित' आदि पाठ्यविधियाँ नाट्यधर्मी हैं। मंचन के समय रंगमंच का सीमित क्षेत्रफल जनान्तिक एवं अपवारित आदि विविध नाट्यधर्मी रूढ़ियों के आविष्कार का हेतु है। रंगमंच पर दो पात्रों की उपस्थिति में जब कोई पात्र अपने मनोगत भाव को प्रकाशित करना चाहता है तब वह स्वगत नाट्यधर्म के आधार पर प्रस्तुत करता है। रंगमंच पर स्थित पात्र उसे नहीं सुन पाते लेकिन दर्शकों के लिए वह श्रव्य ही होता है। इसी प्रकार कोई बात रंगमंच पर उपस्थित कतिपय लोगों के लिए श्राव्य और कतिपय के लिए अश्राव्य हो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। जनान्तिक एवं अपवारित विधियाँ ऐसी ही नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ हैं। जनान्तिक में त्रिपताक मुद्रा के द्वारा मंचस्थ पात्र परस्पर बात करते हैं और अपवारित में जिनसे पाठ्य छिपाया जाता है उनकी ओर पीठ कर ली जाती है। मंच पर स्थित कतिपय पात्र कही गई बात को भी नहीं सुनते। आकाशभाषित के माध्यम से केवल एकाकी अभिनय करने वाला नट स्वयं ही वक्ता होता है और वही अप्रत्युत्तरित वचनों को सुनने का अभिनय करता हुआ उनका उत्तर देता है। (द्रष्टव्य अर्थोपक्षेपक प्रकरण।)संवादों में पद्यात्मकता भी नाट्यधर्मी है। नाट्य-धर्मी विधि में नाटक की

गतिविधियाँ और क्रिया-कलापों को लोक से लेकर भी यथावत् उसी तरीके से प्रस्तुत नहीं करते। वस्तुतः संस्कृत नाटकों का प्रदर्शन लोक-धर्मों के स्थान पर नाट्यधर्मित्व के अधिक निकट है। प्रायः कथानक का स्वरूप लोक-धर्मों होता है जबकि नायक और रस आदि उपस्थापन नाट्य-धर्मों विधि से किया जाता है।

(ग) भूमिका वितरण में नाट्यधर्मित्व- जहाँ अभिनेता एक भूमिका का निर्वहण करने के उपरान्त अपनी कार्यकुशलता से अथवा अकेला ही होने के कारण बीच में दूसरी भूमिका को धारण करता है, उसे भी नाट्यधर्मों कहते हैं। जो स्त्री अभिनेत्री पहले अगम्या स्त्री या पूज्या वृद्धा की भूमिका धारण करके अभिनय कर चुकी हो वही जब बाद में प्रेयसी, पत्नी आदि गम्या स्त्री की भूमिका धारण करे तो उसे भी नाट्यधर्मों कहते हैं। यदि स्वाभाविक गुण-धर्म वाला व्यक्ति यथानुरूप भूमिकाओं के लिये नहीं मिलता है तब नाट्याचार्य भाव और चेष्टाओं का विचार करके आहार्य सम्भार (साजसज्जा-मेकअप) का प्रयोग करते हुये अभीष्ट भूमिकाओं को नाट्यधर्मों विधि से प्रस्तुत कराता है। सामान्य नियम तो यही है कि जिस व्यक्ति के लिये जो कार्य, चेष्टा, रूप सहज और स्वाभाविक हो उसके अनुरूप ही भूमिका दी जाये। प्रायः अनेक भुजा वाले, अनेक मुँह वाले, विकृत और भयंकर मुख वाले पशुओं की मुख और आकृति वाले व्यक्तियों की भूमिका में नाट्यधर्मों विधि का पालन अनिवार्य है। इस स्थिति में मंच पर सिंह, अश्व, गर्दभ, ऊँट, हाथी आदि पशुओं की योजना के लिये, लाख, मिट्टी, लकड़ी, अथवा चमड़े आदि के मुखौटे और आवरण का प्रयोग करते हुये पात्रों की रंगमंच पर प्रस्तुति की जानी चाहिये। ये सारी विधियाँ आहार्य अभिनय का भाग हैं। (द्रष्टव्य अहार्य अभिनय) कोई भी नट बिना साज सज्जा के अपने स्वाभाविक रूप में रंगमंच पर प्रवेश न करे। रंग और भूषणों से अपना वास्तविक रूप छिपा कर रंगमंच पर प्रवेश से दर्शकों को प्रभावित करने में सफलता मिलती है। नाट्यधर्मों का महत्व उस स्थिति में और बढ़ जाता है जब एक साथ प्रभाव वाला नट राजा, देवता अथवा दैत्य आदि की भूमिका निभाता है। हम पास न तो राजा के समान आभिजात्य है न जोज आदि है। वह वापत नाका लग सकता है? इस आशंका का समाधान करते हुये भरत लिखते हैं कि नाट्यधर्मों विधि से चेहरा रंग कर वैसे ही दिखाई देने वाले बस्त्रामाण पहन का एक सामान्य नट भी रंगभूमि में राजा सा दिखाई देने लगता है। यहाँ लोकवन की ध्यान में रखकर ही आहार्य सामग्री प्रयोग में लाई जाती है। तत्पश्चात अपने शिक्षा और अभ्यास के बल पर नट इस प्रकार के क्रियाकलाप प्रस्तुत करता है कि गजा न होता हुआ भी नट दर्शकों पर राजा का सा प्रभाव छोड़ने में सफल रहता है। यही स्थिति देव-दानव आदि की भूमिका निभाने वाले अभिनेता की होती है। आहार्य सामग्री के बल पर देव-दानव आदि जिसकी भी भूमिका निभाई जानी है, वैसे ही प्रभाव छोड़ने में सफलता मिलती है।

(घ) कक्ष्याविभाग में नाट्यधर्मों- नाना प्रकार के विधानों के अनुसार देश, नगर, पर्वत, प्रासाद आदि को प्रदर्शित करने के लिये रंगपीठ पर कक्ष्याविभाग करके प्रस्तुत किया गया अभिनय भी नाट्यधर्मों कहलाता है।¹ अन्ततः भरत कहते हैं जब लोकजीवन में घटित सुखात्मक और दुःखात्मक क्रियाओं का अंगादि अभिनय से युक्त प्रदर्शन किया जाता है उसे भी नाट्यधर्मों कहते हैं।

(ड) कथानक में नाट्यधर्मित्व- इतिहास-पुराण आदि प्राचीन इतिवृत्तों का अतिक्रमण करके उसे यथावत् प्रस्तुत न करके लोकरंजन के लिए काल्पनिक इतिवृत्त की योजना करना, कलात्मक चारियों और अंगहारों का योग, नाट्य लक्षणों के अनुरूप स्वर और अलंकारों का प्रयोग, स्वाभाविकेतर स्त्री-पुरुष के अभिनय नाट्यधर्मि है। यथा बालरामायण में राजशेखर ने राम के निर्वासन के लिए दशरथ वेषधारी रावण की कल्पना की है। भवभूति ने उत्तररामचरित के तीसरे अंक में छायासीता की कल्पना व सप्तम अंक में गर्मीक की योजना की है। इन सबका करने वाला स्वाभाविक अभिनय लोकधर्मि तथा शास्त्रीय परम्पराओं पर आधारित इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोक के सहज जीवन का अनुकरण औचित्य नाट्यधर्मि प्रयोग के कारण है। प्रतीकात्मक अनुकरण प्रस्तुत करने वाला अभिनय नाट्यधर्मि है। लोकधर्मि वस्तुओं और भावों की प्राकृतिक स्थिति है और नाट्यधर्मि आदर्शवादी कलात्मक और रंगमंचीय शास्त्र पर आधारित पद्धति है। नटों के समूह के द्वारा कोई भाव किसी विशेष मुद्रा और शैली में प्रदर्शित किया जाता है। उदाहरण के लिये भरतनाट्य, कुचिपुड़ी, कथक आदि नृत्यों की अपनी विशेष मुद्रायें व शैलियाँ हैं जिनसे किसी भावविशेष की अभिव्यक्ति की जाती है। एक ही भाव अलग-अलग नृत्यशैलियों में अलग-अलग ढंग से प्रकट किया जाता है। इसका कारण नाट्यधर्मि परम्परा है। लोक में घटित घटनायें, क्रियाकलाप, मनोभाव को जब नाट्य में उतारा जाता है तो वे हूबहू लोक-भाव नहीं रहते हैं। प्रेक्षक को ऐसे वृत्त में कोई आनन्द नहीं आता। उन्हें तो वे अपने दैनन्दिन जीवन में देखता ही है। अतः नाट्य में वैचित्र्य होना चाहिये। एतदर्थ आंगिक, आहार्य आदि अभिनयों और गतियों, चारियों, अलंकारों, अंगहारों एवं ध्रुवागान आदि की सहायता से नाट्य में वैचित्र्य प्रस्तुत किया जाता है जो लौकिक होते हुए भी लोकोत्तर लगता है। नाट्यधर्मियों से लौकिकता का परिष्कार हो जाता है। भरत का अभिनय विवेचन इन्हीं लोकधर्मि और नाट्यधर्मि पद्धतियों पर आधृत है। धर्मि की दृष्टि से संस्कृत नाटकों में लोक-धर्मि और नाट्यधर्मि दोनों स्थितियाँ प्रदर्शित हो सकती हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परम्परा में इन दोनों प्रकारों को निर्विवाद रूप से एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता। कोई भी प्राचीन संस्कृत नाटक पूरी तरह से केवल लोक-धर्मि या केवल नाट्य-धर्मि नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में धर्मि-

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की शैली धर्मि की दृष्टि से उभयविध है। सर्वप्रथम कथानक के उपस्थापन में ही कालिदास ने नाट्यधर्मि विधि को आवश्यकता के

अनुसार अंगीकार किया है। कथानक का मूल स्वरूप प्रायः लोक-धर्मि है जबकि नायक और रस उपस्थापन नाट्य-धर्मि विधि से प्रस्तुत है। लोकधर्माश्रित महाभारतीय कथानक में परिवर्तन और परिवर्धन करते हुये नायक के औदात्य की रक्षा के लिये जो दुर्वासा के शाप की कल्पना की गई है और धीवर प्रसंग डाला है, उसका औचित्य नाट्यधर्मि विधि से है।

(क) संवाद में नाट्यधर्मि-

शाकुन्तल में अधिकांशतः गद्यात्मक संवाद हैं। ये (प्रकाशे निर्देश के साथ प्रस्तुत) संवाद लोक-धर्मी विधि से प्रस्तुत हैं। किन्तु प्रचुर स्थानों पर आये हुये स्वगत और नियतश्राव्य संवाद नाट्यधर्मी हैं। पात्रों द्वारा प्रयुक्त पद्यात्मक संवाद भी नाट्यधर्मी है। लोक में गा-गाकर संवाद प्रस्तुत नहीं किये जाते। अतः यह नाट्य-धर्मी विधि है। अनेकत्र स्वगत, जनान्तिक अपवारित और आकाशभाषित विधियों का प्रयोग किया गया है इनका विस्तृत विवेचन अर्थोपक्षेपकों के प्रसंग में किया गया है। अतः वहीं द्रष्टव्य है। यहाँ एक उदाहरण देखा जा सकता है।
अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में एक बटुक प्रियंवदा द्वारा नेपथ्य से न कहे गये वचनों को भी सुनने और प्रत्युत्तर देने का अभिनय करता है। जैसे-

शिष्यः-... (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे! कस्येदमुशीरानुलेपनं

मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते? (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि?

आतपलंघनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणायेति। तर्हि त्वरितं

गम्यताम्। सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छवसितम्। अहमपि

तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि। (इति निष्क्रान्तः)1

(ख) पात्रचयन में नाट्यधर्मी-

अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व की भूमिका चतुर्थ अंक में ही दिखाई देती है और मारीच ऋषि की सप्तम में। इसलिये कण्व की भूमिका करने वाला नट मारीच की भूमिका का निर्वाह करे तो इसे नाट्यधर्मी मानना चाहिये। प्रियंवदा-अनुसूया की भूमिका चतुर्थ अंक तक ही है अतः आगामी अंकों में सानुमती, तापसियों आदि की भूमिका समान अभिनेत्री से प्रस्तुत कराई जाए तो यह भी नाट्यधर्मी प्रयोग माना जायेगा।

(ग) कक्ष्याविभाग में नाट्यधर्मी-

इस नाटक के अनेक दृश्य भी नाट्यधर्मी परम्परा से ही प्रदर्शन के योग्य हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल के अनेक अंक कक्ष्याविभाग की दृष्टि से एकाधिक विभागों की अपेक्षा रखते हैं। प्रथम अंक में हिरन का पीछा करते हुये दुष्यन्त और सारथि से युक्त भागते हुये रथ के लिये वनप्रदेश की भूमि, वैखानसों द्वारा राजा को हिरन के वध से विरत करते समय हिमालय की तलहटी में प्रवाहित मालिनी नदी के तट पर स्थित कण्वाश्रम में प्रवेश की भूमि, जलसिंचन व भ्रमरबाधा प्रसंग में वाटिकाभूमि। इन दृश्यों में भी वाटिकास्थल को एक समय में ही दो कक्ष्याओं में विभक्त करना आवश्यक है। यहीं एक भाग में लताओं के झुरमुट की ओट में छुपकर उपस्थित दुष्यन्त शकुन्तलादि को देख सकता है किन्तु वे उसे नहीं देख सकती। दर्शकों के लिये स्वभावतः दोनों ही दृश्य दिखाई देने चाहिये। तृतीय अंक में वाटिका में लताकुंज का शिलातल से युक्त स्थान जहाँ पर

शकुन्तला स्थित है और उनसे अदृश्य रूप में उपस्थित दुष्यन्त से युक्त लताकुञ्ज का बाहरी स्थान जहाँ से वह शकुन्तला और उसकी सखियों को देख सकता है और उनकी बातें सुन सकता है। चौथे दृश्य में उटज के बाहर चिन्तित बैठी हुई शकुन्तला से युक्त उटज का बाहरी भाग तथा पुष्प चुनती हुई अनुसूया और प्रियंवदा से युक्त वाटिका का वह भाग जहाँ से वे शकुन्तला को भी देख सकती हैं। शकुन्तला का मण्डन करते समय कुटिया का भीतरी भाग। पाँचवे अंक का स्थान हस्तिनापुर में राजप्रासाद की यज्ञशाला में अलिन्द और छोटे अंकों में राजोद्यान का है। सप्तम अंक में हेमकूट पर मारीचऋषि के आश्रम में आकाशमार्ग से विमान द्वारा उतरते मातलि और दुष्यन्त से युक्त आश्रम-स्थान, वह स्थान जहाँ सर्वदमन सिंह शावक से क्रीडा कर रहा है, तथा अन्त में वह स्थान जहाँ शकुन्तला के साथ दुष्यन्त मारीच ऋषि से आशीर्वाद लेने जाते हैं। इस प्रकार यह अंक तीन कक्ष्याओं की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार एक मंच पर कक्ष्याविभाग करके एक साथ अनेक दृश्यों की अवतारणा नाट्यधर्मी विधान है। इसप्रकार स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने शाकुन्तल में संस्कृत थिएटर परंपरा के अनुसार नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी दोनों परम्पराओं का समन्वय किया है।

Lecture by-

Dr. Ritu Mishra

Sem. 3rd

Department of sanskrit

Shivaji college